Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 15, Issue No. 7, September-2018, ISSN 2230-7540

मध्यकालीन भारत में राजनिति और सामजिक संरचना

Pranaw Kumar[1]* Dr. Dewan Nazrul Quadir[2]

[1] Research Scholar

[2] Assistant Professor, CMJ University, Shillong, Meghalaya

सार – *पूर्व मध्यकाल भारतीय राजनीतिक स्तर पर सामंतवाद प्रमुखरूप से राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का द्योतक है। यही सामंतवाद एक विशिष्ट प्रकार के 'सामाजिक संरचना' और आर्थिक व्यवस्था से भी सम्बन्धित है। सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तन की प्रकिया यूरोपीय एवं भारतीय दोनों सामन्ती पद्धतियों में मिलती थी किन्तु दोनों विधाओं में पूर्ण समानता नहीं मिलती है। उपर्युक्त पृष्ठभूमि में यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि पूर्व मध्यकाल में काल एक ऐसे सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करता है जो पूर्ववर्ती सामाजिक संरचना से भिन्न है। यह दृष्टिकोण सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण यूरोपीय इतिहास से प्राप्त ढांचे के अन्तर्गत राज्य और अर्थव्यवस्था को समाहित करता है। इस व्यापक ढांचे में अनेक समानताओं के साथ विभिन्नताओं भी हैं किन्तु ये विभिन्नतायें व्यक्तिगत इतिहासकारों के परिवर्तन सम्बन्धी विवेचनों के पद्धतियों पर निर्भर करती हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभाजित किया गया है कुछ क्षेत्रों में ग्राम सभायें अब भी थी परन्तु उनकी अधिकांश शक्ति का लोप हो चुका था। सामन्तों के ग्रामों में वे धीरे-धीरे समाप्त हो गई थी किन्तु प्रत्यक्ष शासित ग्रामों में वे प्रशासन में सहायता देती थी।*

कुंजी शब्द – *पूर्व मध्यकाल, भारतीय राजनीतिक स्तर, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र, राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक*

----------X----------

परिचय

भूमिका

इतिहास मानवीय विकास की एक अनादि एवं अनन्त धारा है और उस अनादि और अनन्त धारा को युगों में विभाजित करना अस्वाभाविक ही नहीं दुष्कर भी है परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिये इतिहास को युगों या कालों में विभाजित करना हमारी वौद्धिक विवशता है। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में "पूर्व मध्यकाल में सामाजिक-आर्थिक संगठन" (उत्तर भारत के सन्दर्भ में): एक अध्ययन की आधारशिला राजनीतिक इतिहास की पृष्ठ भूमि में त्रिसत्तात्मक संघर्ष से प्रारम्भ कर राजनीतिक सामंतवाद के उत्कर्ष (1000-1200 ई0) तक किया गया है। जिसमें आठवीं सदी के मध्य से तुर्कों द्वारा दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पूर्व की सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। 750 से 1000ई0 के काल को 'तीनन राज्यों में सामंती राजनीति' एवं '1000 से 1200ई0 के काल को श्राजनीतिक सामंतवाद का उत्कर्ष काल' कहा गया है।

जाति व्यवस्था की आलोचना एवं विरोध

हमण तथा अन्य व्यक्त पूर्व मध्यकाल में हमें पूर्ववर्ती यह उदारवादी विचारधारा भी मिलती है कि जाति का निर्धारण दृष्टिकोण एवं कार्य के आधार पर होना चाहिए। ग्यारहवीं सदी के जैन आचार्य अमितगति का अपने ग्रन्थ धर्म परीक्षा में कहना है कि जाति का निर्धारण व्यक्तिगत आचरण से होता है और ब्राहमण तथा अन्य जातियां निश्चित नहीं हैं। शुक्रनीति में भी यही विचार व्यक्त किया गया है। अन्य जैव ग्रन्थ कथा कोश प्रकरण में ब्राहमणों की जातीय श्रेष्ठता को चुनौती दी गयी है जो निःसंदेह पुराहितों की प्रतियोगिता के कारण है। पूर्व मध्यकाल में राजस्थान एवं गुजरात में जैन धर्म का पर्याप्त प्रभाव था और रूढ़िवादी विचारों से पराजित भी हो चुका था किन्तु सम्पूर्णतः इसके जाति सम्बन्धी विचार परम्परावादी हिन्दू विचारकों की तुलना में उदार थे।[40]

अपने ग्रन्थ दर्पदलन में क्षेमेन्द्र ने कुल जाति-दर्प अर्थात् कुल एवं जाति के अभिमान की निन्दा की है और इसे सामाजिक रोग कहा है तथा स्वयं अपने को अन्य लोगों की तरह एक चिकित्सक माना है। सिद्धाचार्यों एवं शाक्त सम्प्रदायों ने भी जाति व्वयस्था का विरोध किया है और कभी-कभी ब्राहमणों

www.ignited.in

के विशेषाधिकारों की आलोचना भी की है। इन सम्प्रदायों ने समाज के निम्नवर्गीय लोगों के धार्मिक आवश्यकताओं, हितों एवं महत्वाकाक्षाओं पर विशेष बल दिया है। यद्यपि बौद्ध धर्म अपने पतन की ओर अग्रसर था। एक बौद्ध भिक्षु लटक मेलक ने जाति व्वयस्था एवं अस्पृश्यता को निरर्थक बताया है।

राजनीतिक परिदृश्य

पूर्व मध्य काल की ऐतिहासिक रचनाओं में इस कालावधि को छठी सदी के मध्य और गुप्तोत्तर स्तर में विभाजित किया गया है, जो बारहवीं सदी के अन्त तक विस्तृत है जब, तुर्क शक्ति ने उत्तर भारत में अपनी राजनीतिक सत्ता सुदृढ़ करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार के काल विभाजन में प्रमुख तत्व गुप्त शासन के प्रकृति के प्रति इतिहासकारों की अवधारणा है। अपने पूर्वज मौर्यों की तरह गुप्त भी साम्राज्य के एक युग का प्रतिनिधित्व करते दिखाई पड़ते हैं। एक साम्राज्य की अवधारणा अनेक करिश्माई राजसी व्यक्तित्वों के सैनिक उपलब्धियों द्वारा निर्मित राजनीतिक ढांचे के रूप में की जाती है। इसके साथ ही यह दीर्घकालीन विदेशी शासन से उत्तर भारत की मुक्ति और विघटनकारों तत्वों के सफलतापूर्वक दमन से प्राप्त राजनीतिक एकता का परिणाम भी है।

यद्यपि उत्तर भारत के राज्य और अर्थव्यवस्था के विश्लेषण के दृष्टिकोणों में मौलिक परिवर्तन हो गये हैं किन्तु प्रारंभिक भारतीय राज्य, अपने स्थायी ढांचे अथवा संकट के रूप में, गुप्तोत्तर कालीन परिवर्तनों की व्याख्या के लिए एक सशक्त साधन के रूप में आज भी मान्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं है, कि नवीन दृष्टिकोणों में राज्य को पूर्वी निरंकुशवाद (ओरिएन्टल डिस्पाटिज्म) का एक प्रकार माना गया है अथवा सम्राटों के उपलब्धियों को सामाजिक प्रगति एवं स्थायित्व से जोड़ा गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रांरभिक भारतीय राज्य की अवधारणा एक स्थिर क्षेत्रीय आधार के साथ एक स्थिर ढांचे के रूप में अभी भी विद्यमान है। अतः 'विकेन्द्रीकरण' अथवा 'विखण्डन' की अवधारणायें ढांचे के विद्यटन और हीन राजनीतिक व्यवस्था के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त की जाती हैं।

भारतीय संदर्भ में यद्यपि सामंतवाद की कतिपय विशेषतायें प्राक-गुप्तकाल में दिखाई पड़ने लगती है किन्तु सामंती जीवन पद्धति के विकास के संकेत गुप्त राजाओं और हर्ष के काल में खोजे जा सकते है। इस काल में सबसे महत्पूर्ण बात यह हुई कि जमीन वाले एक मध्यवर्ती वर्ग का विकास हुआ। ब्राह्मणों को भूमि अनुदान दिये जाने से यह वर्ग विकसित हुआ। उन्हें गांवों में इस भूमि पर पूरा मालिकाना अधिकार मिला हुआ था। हर्ष के राज्यकाल में उच्च अधिकारियों को अपने रख-रखाव के लिए भूमि अनुदान दिये गये। गुप्त सम्राटों द्वारा भूमि-अनुदान दिये जाने के अभिलेखीय साक्ष्य नहीं मिलते, किन्तु उनके सामंतों के समय यह एक आम प्रथा बन गयी थी। इसके बाद जो राजवंश आये उनके काल में इस तरह भूमि अनुदानों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। इसी काल में तथाकथित राजपूतों का आविर्भाव हुआ और राजनीतिक इतिहास में उन्होंने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये सभी प्रश्न भारतीय इतिहास में प्राचीन काल से मध्यकाल में परिवर्तन की समस्या के अंग है।

सामाजिक परिदृश्य

पूर्वमध्यकाल में विदेशी आक्रमणों, सामन्ती प्रवृत्तियों के विकास और तीव्रगति से बौद्ध धर्म के पतनोन्मुख होने की परिस्थितियों में जाति व्यवस्था को नियमित करने एवं क्रियान्वित करने के प्रयास दिखाई पड़ते हैं। सम्पूर्ण रूप से देखने पर स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्यकाल में जाति व्यवस्था द्रुतगति से कठोर हो गयी थी और पर्यान्त रूप से इसका विस्तार भी हुआ। जाति व्यवस्था के विस्तार के प्रमुख कारणों में विदेशी एवं देशी तत्वों का समायोजन, कर्मकाण्डीय एवं क्षेत्रीय पृथकत्व एवं कायस्थ जैसे कुछ व्यावसायिक समूहों का ठोस रूप धारण करना प्रतीत होता है।[12]

ऐसा प्रतीत होता है कि हूणों के आक्रमण, गुप्त साम्राज्य के पतन और उसके परिणाम स्वरूप अव्यवस्था एवं अशान्ति ने स्थापित सामाजिक व्यवस्था में गंभीर अशान्ति पैदा कर दी थी। पुराणों के उल्लेखों में विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा उत्पन्न सामाजिक राजनीतिक उपद्रवों से हूणों के निश्चित योगदान की जानकारी तो इस संदर्भ में नहीं प्राप्त होती किन्तु कल्हण की राजतरंगिणी हूणों के आक्रमण के समय कश्मीर की स्थिति पर प्रकाश डालती है। राजतांगिणी के अनुसार अपवित्र दरदों, भौट्टों और म्लेच्छों द्वारा रौंद दिये जाने पर वह देश धर्म (वर्णाश्रम धर्म) खो चुका था, मिहिर कुल ने स्वयं आर्यों के देश से लोगों को बसाकर धार्मिक आचरण के पालन में लागू किया था और उसने ब्राह्मणों को एक हजार अग्रहार प्रदान किया था। विदेशी आक्रमणों एवं राजनीतिक अशान्ति से प्रभावित उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में भी लगभग यही स्थिति प्रतीत होती है।

यशोधर्मा के मन्दसोर पाषाण स्तम्भ अभिलेख में भी इस युग को 'अच्छे आचरण का विनाशक' कहा गया है। कौशाम्बी उत्खनन से प्राप्त तोरमाण हूण एवं हूणों से सम्बन्धित बाणाग्र, मोहरें एवं अन्य पुरातात्विक सामग्रियां हूणों के कृत्यों पर प्रकाश डालते है। देवी भगवत में भी गंगा घाटी में

www.ignited.in

हूणों के निवास की स्मृतियां मिलती है। इन परिस्थितियों में विदेशियों को आत्मसात् करने एवं जाति-कर्तव्यों को सुनिश्चित करने की महान आवश्यकता का अनुभव किया जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसीलिये गुप्तोत्तर कालीन अनेक अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रन्थों में अनेक शासकों द्वारा जाति व्यवस्था को नियमित एवं शक्तिशाली बनाने के संदर्भ मिलते है।

अपने अभिलेखों में यशोधर्मन् का दावा है कि उसने जातियों की व्यवस्था को नियिमत किया।" हर्ष के एक सील पर प्राप्त अभिलेख में राजा प्रभाकर वर्धन को जाति एवं धर्म के कर्तव्यों को स्थापित करने का श्रेय दिया गया है। हर्षचरित के अनुसार श्रीकण्ड जनपद वर्ण संकर से मुक्त था।[18]

मौखरिवंश के एक प्रारंभिक शासक महाराज हरिवर्मन को भी यही श्रेय नालन्दा से प्राप्त एक मिट्टी के सील में दिया गया है। बलभी के शीलादित्य के एक ताम्र-प्लेट अभिलेख (ई0 671) में कहा गया है कि वह राजा वणों एवं आश्रमों के कर्तव्यों को स्थापित करने में ष्दूसरा मनुष् था। इसी वंश के एक पूर्ववर्ती राजा ध्रुवसेन को भी लगभग यही श्रेय दिया गया है। उड़ीसा के कटक जिले से प्राप्त एक अभिलेख (आठवी शताब्दी ई0) के अनुसार भी राजा क्षेमकर देव वर्ण एंव आश्रम कर्तव्यों को नियमित करने में व्यवस्त रहते थे। गुर्जर राजा जयभट तृतीय के अनुदान (ई0 736) से संकेत मिलता है कि उसके पूर्वज - (7वीं सदी) ने मनु द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रमधर्म को बलपूर्वक लागू करवाया। सातवीं-आठवीं सदी के कामरूप के वर्मन राजाओं ने भी वर्णाश्रम धर्म के समर्थन का कार्य किया।

दण्डिन के दशकुमारचरित में राजा पुण्यवर्मन को मनु द्वारा स्थापित चारों वर्गों के स्पष्टा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार जैसे-जैसे समय आगे जाता रहा, चातुर्वर्ण्य के आधार पर समाज का विभाजन राज्य के लिये महान चिन्ता का विषय बनता गया। भवभूति के उत्तर रामचरित में एक शूद्र को तपस्या करने के कारण दण्डित हुआ बताया गया है क्योंकि वह उसका अधिकार नहीं था। धनपाल के तिलकमंजरी (11वीं सदी ई0) में सार्वभौम मेद्यवाहन को वर्णाश्रम धर्म को व्यवास्थित करने का श्रेय दिया गया है। राजतरंगिणी में भी राज्य द्वारा जाति व्यवस्था के नियमित किये जाने के उदाहरण मिलते हैं।[25] नैषधीयचरित में राजा नल के लिए कहा गया है कि अपने प्रजा के साथ जाति-धर्म से कभी विचलित न होने के कारण राजा नल को ईश्वरीय कृपा प्राप्त थी।

पूर्व मध्यकालीन नारी की स्थिति

पूर्व मध्यकालीन भारतीय महिला कन्या, पत्नी, माता एवं विधवा के रूप में भरणीय, पोषणीय एवं रक्षणीय थी, किन्तु कोई न कोई पुरूष उसकी देख-रेख करता था और वह अभिभावक के नियंत्रण में रहने को बाध्य थी। वर्ण विभाजित पितृ प्रधान समाज में महिलाओं को सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टि से पराधीन करने के प्रयत्न किये गये तथा उनके अधिकारों को समान नहीं माना गया। सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में उन्हें कुछ अधिकार दिये गये किन्तु कुछ ऐसी स्वतन्त्रतायें थी जिनसे स्त्रियां वंचित थीं। स्त्री और पुरूषों के निजी और सामाजिक आचरण की अच्छाई-बुराई के मापदण्ड भिन्न थे। व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर नारी पर प्रभुत्व और अधिकार स्थापित कर उसे अधीनस्थ करने का प्रयत्न किया गया जो सामन्ती मानसिकता का लक्षण है।[44]

इसके अतिरिक्त आठवीं सदी के बाद मुस्लमानों के आक्रमण, उनकी बढ़ती हुई शक्ति एवं उनके सामाजिक समानता के आदर्श ने भी चातुर्वर्ण्य एवं उसके धार्मिक आदर्शों के लिए एक यथार्थ चुनौती प्रस्तुत करना प्रांरभ किया। किस सीमा तक यह सामाजिक संकट लोगों को प्रभावित किया कृषियोग्य भूमि की दूसरी इकाई के अन्तर्गत ब्राह्मणों को दान में दी गयी भूमि को मान सकते है। स्मृतियों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि राजा को ऐसी भूमि का ही दान करना चाहिए जो उर्वर हो। अधीतकाल में ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमिदानों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो चली थी। इस प्रकार की अधिकांश भूमि से भी राजकीय दानों के कर मुक्त होने के कारण राजा को कोई आय नहीं होती थी।

तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत हम सामन्तों को रख सकते हैं जिनकी दो श्रेणियाँ थी। पहली श्रेणी के अन्तर्गत वे सामन्त रखें जा सकते हैं, जो समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ वाले सामन्तों की तरह युद्ध में पराजित होने के बाद अपने पैतृक राज्य में ही करद बनाकर स्थापित किये गये थे, वे उस संप्रभु शासक को निश्चित मात्रा में कर देते थे जिसे वे अपना स्वामी मानते थे और समय-समय पर उसे वे उपहार आदि भी दिया करते थे। तिलकमंजरी का कथन है कि सामन्त राजा को स्वामी के दरबार में आकर सेवा के लिए तैयार रहना चाहिए। ये सामन्त राजा ऐसे अवसरों और परिस्थितियों की तलाश में भी रहते थे कि केन्द्रीय सत्ता कमजोर हो जाय और वे अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दें। इसी कोटि के अन्तर्गत मेवाड़ के गुहिलों को रखा जा सकता है जिन्होंने वाकपति द्वितीय से पराजित होकर परमारों की सत्ता मान ली थी, लेकिन भोज

www.ignited.in

प्रथम की मृत्यु के बाद केन्द्रीय सत्ता के कमजोर पड़ पर उन्होने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। ऐसे सामन्त जो अपने राज्य में स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे राजा को एक निश्चित मात्रा में धनराशि दिया करते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर उसकी सैनिक सेवा भी किया करते थे।

आर्थिक परिदृश्य

पूर्व मध्यकाल उस पर विभिन्न विद्वानों की भिन्न-भिन्न विचारधारायें हैं। ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य में देखने पर मुख्यतया तीन विचारधारायें प्रकाश में आती हैं। पहली विचारधारा कार्लमार्क्स से उद्भूत है जिसके इर्द-गिर्द अन्य शेष दो विचारधारायें घूमती रहती हैं। कार्लमार्कस की मान्यता है कि एशिया की भूदसमस्या वैसी ही नहीं है जैसी कि यूरोप में है। एशिया की भूमि व्यवस्था सामूहिक स्वामित्व की व्यवस्था है, उस पर राजाओ तथा राजवंशो के बार-बार परिवर्तन होने पर भी सामूहिक स्वामित्व की समस्या अपने उसी अडिग रूप में विद्यमान रही जैसे कि समुद्र के ऊपरी धरातल पर बार-बार परिवर्तन होता रहता है लेकिन समुद्र के गर्भ में एकदम स्थिरता रहती है, उसमें कोई परिवर्तन नही होता। इसी धारणा का समर्थन पार्जिटर, बसाक, आर0 सी0 मजूमदार, तथा हेनरीमैन के विचारो से भी होता है।

दूसरी विचारधारा विटफोगेल की है जो कि कार्लमार्क्स के एकदम विपरीत है।उनकी विचारधारा सिंचाई के साधनो पर अवलम्बित है। इनकी मान्यता है कि जो सिंचाई के साधनो का मालिक होगा वही भूमि का भी मालिक होगा द्यचूंकि राजा सम्पूर्ण सिंचाई के साधनों का मालिक होता था, अतः वही सम्पूर्ण भूमि का स्वामी था। राजा को सम्पूर्ण भूमि का स्वामी वी0 ए0 स्मिथ, जे0 एन0 समद्दर, शामाशास्त्री, हाप्सकिन, व्यूलर आदि विद्धानों ने भी माना है।

वर्ण व्यवस्था

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के सिद्धान्त की पुनरावृत्ति ऋग्वैदिक काल से धर्मशास्त्रों में अनवरत् रूप से होती चली आ रही है। पूर्व मध्यकालीन व्यवस्थाकारों ने भी इस वर्ण व्यवस्था के क्रम का उल्लेख किया है। इस अव्यवस्था के विषय में आधुनिक समाजशास्त्रियों ने अपना अलग-अलग मत दिया है। कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार यह व्यवस्था ब्राह्मणों ने ब्राह्मणों के लिए किया था, जो उनके द्वारा अपनी स्वतंत्र, विशिष्ट और विशेषाधिकार सम्पन्न स्थिति के निर्माण और निरन्तरता के प्रयास की परिचायक थी। कुछ चिन्तकों ने इसे दास प्रथा पर आधारित बताया। विवेच्ययुगीन परिवर्तित परिस्थितियों में वर्ण व्यवस्था में भी परिवर्तन हुए।

1. ब्राह्मण वर्ण

यह जाति संस्कृति के पोषक और संरक्षक तथा अपने उच्चादर्शों एवं विद्वता के कारण समाज में सर्वोपरि एवं वन्दनीय मानी जाती रही है। समाज के विविधि कार्यों के संचालन एवं सम्पादन में उनका महत्वपूर्ण स्थान था। समाज के उच्च वर्गों के सदस्यों को वेद का ज्ञान कराना, यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठान सम्पादित कराना, नैतिक निर्देश देना, विद्यालय चलाना और अध्यापन कार्य करना इनका प्रधान कर्म था। धर्मवेत्ता एवं ज्योतिष, गणित, काव्य तथा दर्शन के ज्ञाता विद्वान ब्राह्मणों को राजा भी मान सम्मान व दान दिया करते थे।

तत्कालीन ब्राह्मण वर्ण की आर्थिक स्थिति ...

तत्कालीन सामाजिक गतिशीलता का एक शक्तिशाली स्रोत राजनीतिक व्यवस्था की अस्थिरता में थी। इस समय अनेकानेक निम्न अज्ञात तथा विदेशी मूल के व्यक्तियों ने राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर स्वयं को छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों के शासकों के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया।ष् राजपूत कहलाने वाले इनमें से अनेक का सम्बन्ध आर्य संस्कृति से नहीं था।[12] राजनीतिक अधिकार प्राप्त ये शासक हिन्दू समाज में आत्मसात् हुए थे। भव्य परम्परा के अभाव और नव उद्भव के कारण सामाजिक सम्मान और नवस्थिति के निमित्त वे ब्राह्मणों के मुखापेक्षी थे।[13]

राजसत्ता लेने के बाद उक्त समूह अपने कर्मकाण्डों एवं जीवन शैली के संस्कृतिकरण एवं क्षत्रियत्व का अनुमोदन प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों को प्रश्रय देने के लिए बाध्य था। गुप्तोत्तर काल में ब्राह्मण वर्ग की धार्मिक सत्ता को आर्थिक पोषण के साथ-साथ इस बात की भी शक्ति प्राप्त हुई कि राजनीतिक सत्ता को वैधता प्रदान करने के लिए वे अनिवार्य बन गये। इस युग की अंतिम तीन या चार शताब्दियों की राजनीतिक स्थिति ब्राह्मणों के लिए अत्यन्त सहायक रही, परन्तु यह ब्राह्मण वर्ग की स्थिति का एकपक्षीय विश्लेषण है।

अध्ययन का उद्देश्य

1. राजनितिक और सामजिक संरचना का अध्ययन

www.ignited.in

2. पूर्व मध्यकाल में नारी की स्तिथि एवं वर्ण व्यवस्था पर अध्ययन

निष्कर्ष

प्राचीन एवं पूर्व मध्य कालीन भारतीय महिला कन्या, पत्नी, माता एवं विधवा के रूप में भरणीय, पोषणीय एवं रक्षणीय थी किन्तु कोई न कोई पुरूष उसकी देख-रेख करता था और वह अभिभावक के नियंत्रण में रहने को बाध्य थी। वर्ण विभाजित पितृ प्रधान समाज में महिलाओं को सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टि से पराधीन करने के प्रयत्न किये गये तथा उनके अधिकारों को समान नहीं माना गया। सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में उन्हें कुछ अधिकार दिये गये किन्तु कुछ ऐसी स्वतन्त्रतायें थी जिनसे स्त्रियां वंचित थीं। स्त्री और पुरूषों के निजी ओर सामाजिक आचरण की उच्छाई-बुराई के मानदण्ड भिन्न थे। व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर नारी पर प्रभुत्व और अधिकार स्थापित कर उसे अधीनस्थ करने का प्रयत्न किया गया जो सामन्ती मानसिकता का लक्षण है। पूर्वमध्यकालीन भारत में पारिवारिक महिलायें विवाह के चुनाव में स्वतन्त्र नहीं थी और जाति तथा कुल धर्म के सिद्धान्तों से बंधी हुई थीं जिन्हें राज्य से भी मान्यता प्राप्त थी। स्वयंवर प्रथा का प्रमाण राजपरिवारों तक सीमित था जिसमें कन्या स्वेच्छापूर्वक अपने पति का वरण करती थी। जनजातीय समाज में अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता के प्रमाण मिलते हैं। परवर्ती कालों में गांधर्व विवाह भी निचले वर्गों तक सीमित हो गया।

संदर्भ

1. मैक्स वेबर, द स्टडी ऑफ सोशल एण्ड इकोनॉमिक आर्गनाइजेशन,पृ0 150-154.
2. याज्ञ0, 2.158.
3. शत0ब्रा0, 1.6.2.3.
4. लेफमैन, ललितविस्तर, 128.26.
5. दिव्यावदान, 2.21, 23-24.
6. वही, 43.28-30.
7. वही, 3.2.182, 3.3.119. 118
8. वही, 4.4.97, 4.4.9.
9. अर्थ0, 7.14, सेतुवार्तागजबन्ध, रघुवंश, 16.2.
10. स्टुअर्ट पीगोट, प्री-हिस्टोरिक इण्डिया, लन्दन, पृ0 70.
11. महा0, सभा0, 5.67, अनु0, 64.6.

Corresponding Author

Pranaw Kumar*

Research Scholar